ॐ श्रीपरमात्मने नमः

परलोक और पुनर्जन्म

परलोक और पुनर्जन्मका सिद्धान्त हिन्दूधर्मकी खास सम्पत्ति है। जैन और बौद्धमत भी एक प्रकारसे हिन्दूधर्मकी ही शाखाएँ मानी जा सकती हैं; क्योंकि वे इस सिद्धान्तको मानते हैं। इसलिये वे हिन्दूधर्मके अन्तर्गत हैं। मुसलमान और ईसाईमत इस सिद्धान्तको नहीं मानते; परन्तु थियॉसफी सम्प्रदायके उद्योगों तथा प्रेतविद्या (Spiritualism)-के चमत्कारोंने (जिसका इधर कुछ वर्षोंमें पाश्चात्य जगत्‌में काफी प्रचार हुआ है) इस ओर लोगोंका काफी ध्यान आकृष्ट किया है और अब तो हजारों-लाखोंकी संख्यामें योरोप और अमेरिकाके लोग भी ईसाई होते हुए भी परलोकमें विश्वास करने लगे हैं। हमारे भारतवर्षका तो बच्चा-बच्चा इस सिद्धान्तको मानता और उसपर अमल करता है। यही नहीं, यह सिद्धान्त हमारे जीवनके प्रत्येक अंगके साथ सम्बद्ध हो गया है; हमारा कोई धार्मिक कृत्य ऐसा नहीं है, जिसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपसे परलोकसे सम्बन्ध न हो और हमारा कोई धार्मिक ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपसे परलोक एवं पुनर्जन्मका समर्थन न करता हो। इधर तो कई स्थानोंमें ऐसी घटनाएँ भी प्रकाशमें आयी हैं, जिनमें अबोध बालक-

बालिकाओंने अपने पूर्वजन्मकी बातें कही हैं, जो जाँच-पड़ताल करनेपर सच निकली हैं।

आत्माकी उन्नति तथा जगत्में धार्मिक भाव, सुख-शान्ति तथा प्रेमके विस्तारके लिये तथा पाप-तापसे बचनेके लिये परलोक एवं पुनर्जन्मको मानना आवश्यक भी है। आज संसारमें, विशेषकर पाश्चात्य देशोंमें आत्महत्याओंकी संख्या जो दिनोंदिन बढ़ रही है—आये दिन लोगोंके जीवनसे निराश होकर अथवा असफलतासे दु:खी होकर, अपमान एवं अपकीर्तिसे बचनेके लिये अथवा इच्छाकी पूर्ति न होनेके दु:खसे डूबकर, फाँसी लगाकर, जलकर, विषपान करके अथवा गोली खाकर प्राणत्याग करनेकी बातें पढ़ी-सुनी और देखी जाती हैं—उसका एकमात्र प्रधान कारण आत्माकी अमरतामें तथा परलोकमें अविश्वास है। यदि हमें यह निश्चय हो जाय कि हमारा जीवन इस शरीरतक ही सीमित नहीं है, इसके पहले भी हम थे और इसके बाद भी हम रहेंगे, इस शरीरका अन्त कर देनेसे हमारे कष्टोंका अन्त नहीं हो जायगा, बल्कि इस शरीरके भोगोंको भोगे बिना ही प्राणत्याग कर देनेसे तथा आत्महत्यारूप नया घोर पाप करनेसे हमारा भविष्य जीवन और भी अधिक कष्टमय होगा तो हम कभी आत्महत्या करनेका साहस नहीं करेंगे। अत्यन्त खेदका विषय है कि पाश्चात्य जडवादी सभ्यताके सम्पर्कमें आनेसे यह पाप हमारे आधुनिक

शिक्षाप्राप्त नवयुवकोंमें भी घर कर रहा है और आजकल ऐसी बातें हमारे देशमें भी देखी-सुनी जाने लगी हैं। हमारे शास्त्रोंने आत्महत्याको बहुत बड़ा पाप माना है और उसका फल सूकर, कूकर आदि अन्धकारमय योनियोंकी प्राप्ति बतलाया है। श्रुति कहती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईशोपनिषद् ३)

अर्थात् वे असुर-सम्बन्धी लोक [अथवा आसुरी योनियाँ] आत्माके अदर्शनरूप अज्ञानसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माका हनन करनेवाले लोग हैं, वे मरनेके अनन्तर उन्हींमें जाते हैं।

संसारमें जो पापोंकी वृद्धि हो रही है—झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार एवं अनाचार बढ़ रहे हैं, व्यक्तियोंकी भाँति राष्ट्रोंमें भी परस्पर द्वेष और कलहकी वृद्धि हो रही है, बलवान् दुर्बलोंको सता रहे हैं, लोग नीति और धर्मके मार्गको छोड़कर अनीति और अधर्मके मार्गपर आरूढ़ हो रहे हैं, लौकिक उन्नति और भौतिक सुखको ही लोगोंने अपना ध्येय बना लिया है और उसीकी प्राप्तिके लिये सब लोग यत्नवान् हैं, विलासिता और इन्द्रियलोलुपता बढ़ती जा रही है, भक्ष्याभक्ष्यका विचार उठता जा रहा है, जीभके स्वाद और शरीरके आरामके लिये दूसरोंके

कष्टकी तनिक भी परवा नहीं की जाती, मादक द्रव्योंका प्रचार बढ़ रहा है, बेईमानी और घूसखोरी उन्नतिपर है, एक-दूसरेके प्रति लोगोंका विश्वास कम होता जा रहा है, मुकदमेबाजी बढ़ रही है, अपराधोंकी संख्या बढ़ती जा रही है, दम्भ और पाखण्डकी वृद्धि हो रही है—इन सबका कारण यही है कि लोगोंने वर्तमान जीवनको ही अपना जीवन मान रखा है; इसके आगे भी कोई जीवन है, इसमें उनका विश्वास नहीं है। इसीलिये वे वर्तमान जीवनको ही सुखी बनानेके प्रयत्नमें लगे हुए हैं। 'जबतक जियो, सुखसे जियो; कर्जा लेकर भी अच्छे-अच्छे पदार्थोंका उपभोग करो। मरनेके बाद क्या होगा, किसने देख रखा है।'* इसी सर्वनाशकारी मान्यताकी ओर आज प्रायः सारा संसार जा रहा है। यही कारण है कि वह सुखके बदले अधिकाधिक दुःखमें ही फँसता जा रहा है। परलोक और पुनर्जन्मको न माननेका यह अवश्यम्भावी फल है। आज हम इसी परलोक और पुनर्जन्मके सिद्धान्तकी कुछ चर्चा करते हैं और इस सिद्धान्तको माननेवालोंका क्या कर्तव्य है—इसपर भी विचार कर रहे हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, परलोक और पुनर्जन्मके सिद्धान्तका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपसे हमारे

---

* यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ (चार्वाक)

सभी शास्त्रोंने समर्थन किया है। वेदोंसे लेकर आधुनिक दार्शनिक ग्रन्थोंतक सभीने एक स्वरसे इस सिद्धान्तकी पुष्टि की है। स्मृतियों, पुराणों तथा महाभारतादि इतिहास-ग्रन्थोंमें तो इस विषयके इतने प्रमाण भरे हैं कि उन सबको यदि संगृहीत किया जाय तो एक बहुत बड़ी पुस्तक तैयार हो सकती है। इसके लिये न तो अवकाश है और न इसकी उतनी आवश्यकता ही प्रतीत होती है। प्रस्तुत निबन्धमें उपनिषद्, गीता, मनुस्मृति, योगसूत्र आदि कुछ थोड़े-से चुने हुए प्रामाणिक ग्रन्थोंमेंसे ही कुछ प्रमाण लेकर इस सिद्धान्तकी पुष्टि की जायगी और युक्तियोंके द्वारा भी इसे सिद्ध करनेकी चेष्टा की जायगी।

कठोपनिषद्का नाचिकेतोपाख्यान इस सिद्धान्तका जीता-जागता प्रमाण है। उपनिषद्का पहला श्लोक ही परलोकके अस्तित्वको सूचित करता है। नचिकेताने जब देखा कि उसके पिता वाजश्रवस ऋत्विजोंको बूढ़ी और निकम्मी गायें दानमें दे रहे हैं तो उससे न रहा गया। वह सोचने लगा कि ऐसी गायें देनेवालेको तो आनन्दरहित लोकोंकी प्राप्ति होती है—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्॥*

(१। १। ३)

* जो जल पी चुकी हैं, जिनका घास खाना समाप्त हो

अतएव उसने पिताको उस कामसे रोकनेका प्रयत्न किया, पर इसमें वह सफल न हो सका। इसके बाद उसके पिताने कुपित होकर जब उसे मृत्युको सौंप देनेकी बात कही तो वह प्रसन्नतापूर्वक पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य कर यमलोकमें चला गया। इसके बाद उसके और यमराजके बीचमें जो संवाद हुआ है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यमराजने उसे तीन वर देनेको कहा। उनमेंसे तीसरा वर माँगता हुआ नचिकेता यमराजसे यह प्रश्न करता है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः॥

(१।१।२०)

अर्थात् मरे हुए मनुष्यके विषयमें जो यह शंका है कि कोई तो कहते हैं मरनेके अनन्तर 'आत्मा रहता है' और कोई कहते हैं 'नहीं रहता'—इस सम्बन्धमें मैं आपसे उपदेश चाहता हूँ, जिससे मैं इस विषयका ज्ञान प्राप्त कर सकूँ। मेरे माँगे हुए वरोंमें यह तीसरा वर है।

यमराजने इस विषयको टालना चाहा और नचिकेतासे

चुका है, जिनका दूध भी दुह लिया गया है और जिनमें बछड़ा देनेकी शक्ति भी नहीं रह गयी है, उन गौओंका दान करनेसे वह दाता आनन्दशून्य लोकोंको जाता है।

कहा कि तू कोई दूसरा वर माँग ले; क्योंकि यह विषय अत्यन्त गूढ़ है और देवताओंको भी इस विषयमें शंका हो जाया करती है। नचिकेता कोई सामान्य जिज्ञासु नहीं था। अतः विषयकी गूढ़ताको सुनकर उसका उत्साह कम नहीं हुआ, बल्कि उसकी जिज्ञासा और भी प्रबल हो उठी। वह बोला कि इसीलिये तो इस विषयको मैं आपसे जानना चाहता हूँ; क्योंकि इस विषयका उपदेश करनेवाला आपके समान और कौन मिलेगा। इसपर यमराजने पुत्र-पौत्र, हाथी-घोड़े, सुवर्ण, विशाल भूमण्डल, दीर्घ जीवन, इच्छानुकूल भोग, अनुपम रूप-लावण्यवाली स्त्रियाँ तथा और भी बहुत-से भोग जो मनुष्यलोकमें दुर्लभ हैं, उसे देने चाहे; परन्तु नचिकेता अपने निश्चयसे नहीं टला। वह बोला—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैत-
त्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥

(१। १। २६)

'हे यमराज! ये भोग 'कल रहेंगे या नहीं'—इस प्रकारके सन्देहसे युक्त हैं अर्थात् अस्थिर हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तेजको जीर्ण कर देते हैं। यह सारा जीवन भी स्वल्प ही है। अतः आपके वाहन (हाथी-घोड़े)

और नाच-गान आपहीके पास रहें, मुझे उनकी आवश्यकता नहीं है।'

नचिकेताके इस आदर्श निष्कामभाव और दृढ़ निश्चयको देखकर यमराज बहुत ही प्रसन्न हुए और उसकी प्रशंसा करते हुए बोले—

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाꣳश्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैताꣳ सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥

(१। २। ३)

'हे नचिकेता! तूने प्रिय अर्थात् पुत्र, धन आदि इष्ट पदार्थोंको और प्रियरूप—अप्सरा आदि लुभानेवाले भोगोंको असार समझकर त्याग दिया और जिसमें अधिकांश मनुष्य डूब (फँस) जाते हैं, उस धनिकोंकी निन्दित गतिको तूने स्वीकार नहीं किया। धन्य है तेरी निष्ठा!'

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

(१। २। ६)

'जो मूर्ख धनके मोहसे अंधे होकर प्रमादमें लगे रहते हैं, उन्हें परलोकका साधन नहीं सूझता। यही लोक

है, परलोक नहीं है—ऐसा माननेवाला पुरुष बारम्बार मेरे चंगुलमें फँसता है (जन्मता और मरता है)।'

नैषा तर्केण मतिरापयेना
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥

(१। २। ९)

'हे प्रियतम! सम्यक् ज्ञानके लिये कोरा तर्क करनेवालोंसे भिन्न किसी शास्त्रज्ञ आचार्यद्वारा कही हुई यह बुद्धि, जिसको तुमने पाया है, तर्कद्वारा प्राप्त नहीं होती। अहा! तेरी धारणा बड़ी सच्ची है। हे नचिकेता! हमें तेरे समान जिज्ञासु सदा प्राप्त हों।'

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥

(१। २। ११)

'हे नचिकेता! तूने बुद्धिमान् होकर भोगोंकी परम अवधि, जगत्‌की प्रतिष्ठा, यज्ञका अनन्त फल, अभयकी पराकाष्ठा, स्तुत्य और महती गति तथा प्रतिष्ठाको देखकर भी उसे धैर्यपूर्वक त्याग दिया। शाबाश!'

उपर्युक्त वचनोंसे इस विषयकी महत्ता तथा उसे जाननेके लिये कितने ऊँचे अधिकारकी आवश्यकता है, यह बात द्योतित होती है।

इस प्रकार नचिकेताकी कठिन परीक्षा लेकर और उसे उसमें उत्तीर्ण पाकर यमराज उसे आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें उपदेश देते हैं। वे कहते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(१। २। १८)

'यह नित्य चिन्मय आत्मा न जन्मता है, न मरता है; यह न तो किसी वस्तुसे उत्पन्न हुआ है और न स्वयं ही कुछ बना है (अर्थात् न तो यह किसीका कार्य है, न कारण है, न विकार है, न विकारी है)। यह अजन्मा, नित्य (सदासे वर्तमान, अनादि), शाश्वत (सदा रहनेवाला, अनन्त) और पुरातन है तथा शरीरके विनाश किये जानेपर भी नष्ट नहीं होता।'*

उपर्युक्त वर्णनसे आत्माकी अमरता सिद्ध होती है। वे फिर कहते हैं—

---

* यही मन्त्र कुछ हेर-फेरसे गीतामें भी आया है (देखिये २। २०)।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳहतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳहन्ति न हन्यते॥

(१। २। १९)

'यदि मारनेवाला आत्माको मारनेका विचार करता है और मारा जानेवाला उसे मरा हुआ समझता है तो वे दोनों ही उसे नहीं जानते; क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है।'*

आगे चलकर यमराज उन मनुष्योंकी गति बतलाते हैं, जो आत्माको बिना जाने हुए ही मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं। वे कहते हैं—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥

(२। २। ७)

'अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर धारण करनेके लिये किसी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनिको प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावरभाव (वृक्षादि योनि)-को प्राप्त होते हैं।'

ऊपरके मन्त्रसे भी पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है।

गीतामें भी परलोक तथा पुनर्जन्मका प्रतिपादन करनेवाले अनेक वचन मिलते हैं। उनमेंसे कुछ यहाँ

* यह मन्त्र भी कुछ शब्दोंके हेर-फेरसे गीतामें पाया जाता है (देखिये २। १९)।

उद्धृत किये जाते हैं। गीताके दूसरे अध्यायमें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(२। १२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(२। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२। २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

चौथे अध्यायमें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

(गीता ४। ५)

'हे परंतप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ।'

गीतामें स्वर्गादि लोकोंका भी कई जगह उल्लेख आता है; पुनर्जन्म, परलोक, आवृत्ति-अनावृत्ति, गतागत (गमनागमन) आदि शब्द भी कई जगह आये हैं। छठे अध्यायके ४१-४२ वें श्लोकोंमें योगभ्रष्ट पुरुषके दीर्घकालतक स्वर्गादि लोकोंमें निवास कर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें अथवा ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेनेकी बात आयी है तथा ४५ वें श्लोकमें अनेक जन्मोंकी बात भी आयी है। इसी प्रकार १३ वें अध्यायके २१ वें श्लोकमें पुरुषके सत्-असत् योनियोंमें जन्म लेनेकी बात कही गयी है, १४ वें अध्यायके १४-१५ तथा १८ वें श्लोकोंमें गुणोंके अनुसार मनुष्यके उच्च, मध्य तथा अधोगतिको प्राप्त होनेकी बात आयी है तथा १५ वें अध्यायके श्लोक ७-८में एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जानेका स्पष्टरूपमें उल्लेख हुआ है। १६ वें अध्यायके श्लोक १६, १९ और २० में

भगवान्ने आसुरी सम्पदावालोंको बारम्बार तिर्यक् योनियों और नरकमें गिरानेकी बात कही है। इन सब प्रसंगोंसे भी पुनर्जन्म तथा परलोककी पुष्टि होती है।

योगसूत्रमें भी पुनर्जन्मका विषय आया है। महर्षि पतंजलि कहते हैं—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।

(साधन०१२)

अर्थात् 'क्लेश* जिनकी जड़ हैं, वे कर्माशय (कर्मोंकी वासनाएँ) वर्तमान अथवा आगेके जन्मोंमें भोगे जा सकते हैं।'

उन वासनाओंका फल किस रूपमें मिलता है, इसके विषयमें महर्षि पतंजलि कहते हैं—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

(साधन० १३)

अर्थात् 'क्लेशरूपी कारणके रहते हुए उन वासनाओंका फल जाति (योनि), आयु (जीवनकी अवधि) और भोग (सुख-दुःख) होते हैं।'

मनुस्मृतिमें भी पुनर्जन्मके प्रतिपादक अनेकों वचन मिलते हैं। उनमेंसे कुछ चुने हुए वचन नीचे उद्‌धृत किये

---

* योगशास्त्रमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय)—इनको 'क्लेश' नामसे कहा गया है।

जाते हैं। किन-किन कर्मोंसे जीव किन-किन योनियोंको प्राप्त होते हैं, इस विषयमें भगवान् मनु कहते हैं—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥

(१२।४०)

अर्थात् 'सत्त्वगुणी लोग देवयोनिको, रजोगुणी मनुष्ययोनिको और तमोगुणी तिर्यग्योनिको प्राप्त होते हैं। जीवोंकी सदा यही तीन प्रकारकी गति होती है।'

इन्द्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्यासेवनेन च।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः॥

(१२।५२)

'जो लोग इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें ही लगे रहते हैं तथा धर्माचरणसे विमुख रहते हैं, उनके विषयमें भगवान् मनु कहते हैं कि वे मूर्ख और नीच मनुष्य मरनेपर निन्दित गतिको पाते हैं।'

इसके आगे भगवान् मनु ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरुपत्नी-गमन आदि कुछ महापातकोंका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इन पापोंको करनेवाले अनेक वर्षतक नरक भोगकर फिर नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। उदाहरणतः ब्रह्महत्या करनेवाला कुत्ते, सूअर, गदहे, चाण्डाल आदि योनियोंको प्राप्त होता है; ब्राह्मण होकर मदिरापान करनेवाला कृमि-कीट-पतंगादि तथा हिंसक योनियोंमें

जन्म लेता है; गुरुपत्नीगामी तृण, गुल्म, लता आदि स्थावर योनियोंमें सैकड़ों बार जन्म ग्रहण करता है तथा अभक्ष्य भक्षण करनेवाला कृमि होता है।*

इस प्रकार परलोक एवं पुनर्जन्मके प्रतिपादक अनेकों प्रमाण शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं। उनको कहाँतक लिखा जाय। अब हम युक्तियोंसे भी परलोक एवं पुनर्जन्मको सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं।

(१) शरीरकी तरह आत्माका परिवर्तन नहीं होता। शरीरमें तो हम सभीके अवस्थानुसार परिवर्तन होता देखा जाता है। आज जो हमारा शरीर है कुछ वर्ष बाद वह बिलकुल बदल जायगा, उसके स्थानमें दूसरा ही शरीर बन जायगा—जैसे नख और केश पहलेके कटते जाते हैं और नये आते रहते हैं। बाल्यावस्थामें हमारे सभी अंग कोमल और छोटे होते हैं, कद छोटा होता है, स्वर मीठा होता है, वजन भी कम होता है तथा मुखपर रोएँ नहीं होते। जवान होनेपर हमारे अंग पहलेसे कठोर और बड़े हो जाते हैं, आवाज भारी हो जाती है, कद लंबा हो जाता है, वजन बढ़ जाता है तथा दाढ़ी-मूँछ आ जाती है। इसी प्रकार बुढ़ापेमें हमारे अंग शिथिल हो जाते हैं, शरीरकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है, चमड़ा ढीला पड़ जाता है, बाल

* देखिये मनुस्मृति १२।५४—५६, ५८, ५९।

पक जाते हैं, दाँत ढीले हो जाते हैं तथा गिर जाते हैं एवं शरीर तथा इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण हो जाती है। यही कारण है कि बालकपनमें देखे हुए किसी व्यक्तिको उसके युवा हो जानेपर हम सहसा नहीं पहचान पाते। परन्तु शरीर बदल जानेपर भी हमारा आत्मा नहीं बदलता। दस वर्ष पहले जो हमारा आत्मा था; वही आत्मा इस समय भी है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यदि होता तो आजसे दस वर्ष अथवा बीस वर्ष पहले हमारे जीवनमें घटी हुई घटनाका हमें स्मरण नहीं होता। दूसरेके द्वारा अनुभव किये हुए सुख-दुःखका जिस प्रकार हमें स्मरण नहीं होता, उसी प्रकार यदि हमारा आत्मा बदल गया होता तो हमें अपने जीवनकी बातोंका भी कालान्तरमें स्मरण नहीं रहता। परन्तु आजकी घटनाका हमें दस वर्ष बाद अथवा बीस वर्ष बाद भी स्मरण होता है, इससे मालूम होता है कि अनुभव करनेवाला और स्मरण करनेवाला दो व्यक्ति नहीं, बल्कि एक ही व्यक्ति है। जिस प्रकार वर्तमान शरीरमें इतना परिवर्तन होनेपर भी आत्मा नहीं बदला, उसी प्रकार मरनेके बाद दूसरा शरीर मिलनेपर भी यह नहीं बदलनेका। इससे आत्माकी नित्यता सिद्ध होती है।

(२) मनुष्य अपना अभाव कभी नहीं देखता, वह यह कभी नहीं सोचता कि एक दिन मैं नहीं रहूँगा अथवा मैं पहले नहीं था। अपने अभावके बारेमें

आत्माकी ओरसे उसे कभी गवाही नहीं मिलती। वह यही सोचता है कि मैं सदासे हूँ और सदा रहूँगा। इससे भी आत्माकी नित्यता सिद्ध होती है।

(३) बालक जन्मते ही रोने लगता है और जन्मनेके बाद कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी सोता है; जब माता उसके मुखमें स्तन देती है तो वह उसमेंसे दूध खींचने लगता है और धमकाने आदिपर भयसे काँपता हुआ भी देखा जाता है। बालकके ये सब आचरण पूर्वजन्मका लक्ष्य कराते हैं; क्योंकि इस जन्ममें तो उसने ये सब बातें सीखीं नहीं। पूर्वजन्मके अभ्याससे ही ये सब बातें उसके अंदर स्वाभाविक ही होने लगती हैं। पूर्वजन्ममें अनुभव किये हुए सुख-दुःखका स्मरण करके ही वह हँसता और रोता है, पूर्वमें अनुभव किये हुए मृत्यु-भयके कारण ही वह काँपने लगता है तथा पूर्वजन्ममें किये हुए स्तनपानके अभ्याससे ही वह माताके स्तनका दूध खींचने लगता है।

(४) जीवोंमें जो सुख-दुःखका भेद, प्रकृति अर्थात् स्वभाव और गुण-कर्मका भेद—काम-क्रोध, राग-द्वेष आदिकी न्यूनाधिकता—तथा क्रियाका भेद एवं बुद्धिका भेद दृष्टिगोचर होता है, उससे भी पूर्वजन्मकी सिद्धि होती है। एक ही माता-पितासे उत्पन्न हुई सन्तान—यहाँतक कि एक ही साथ पैदा हुए बच्चे भी इन सब बातोंमें एक-दूसरेसे विलक्षण पाये जाते हैं। पूर्वजन्मके

संस्कारोंके अतिरिक्त इस विचित्रतामें कोई हेतु नहीं हो सकता। जिस प्रकार ग्रामोफोनकी चूड़ीपर उतरे हुए किसी गानेको सुनकर हम यह अनुमान करते हैं कि इसी प्रकार किसी मनुष्यने इस गानेको कहीं अन्यत्र गाया होगा, तभी उसकी प्रतिध्वनिको आज हम इस रूपमें सुन पाते हैं, उसी प्रकार आज हम किसीको सुखी अथवा दुःखी देखते हैं अथवा अच्छे-बुरे स्वभाव और बुद्धिवाला पाते हैं तो उससे यही अनुमान होता है कि उसने पूर्वजन्ममें वैसे ही कर्म किये होंगे, जिनके संस्कार उसके अन्तःकरणमें संगृहीत हैं, जिन्हें वह अपने साथ लेता आया है। यदि किसीको वर्तमान जीवनमें हम सुखी पाते हैं तो इसका मतलब यही है कि उसने पूर्वजन्ममें अच्छे कर्म किये होंगे और दुःखी पाते हैं तो इसका मतलब यह होता है कि उसने पूर्वजन्ममें अशुभकर्म किये होंगे। यही बात स्वभाव, गुण और बुद्धि आदिके सम्बन्धमें समझनी चाहिये।

यदि कोई कहे कि संस्कारोंके भेदके लिये पूर्वजन्मको माननेकी क्या आवश्यकता है, ईश्वरकी इच्छाको ही इसमें हेतु क्यों न मान लिया जाय तो इसका उत्तर यह है कि इस वैचित्र्यका कारण ईश्वरको माननेसे उनमें वैषम्य एवं नैर्घृण्य (निर्दयता)-का दोष आवेगा। वैषम्यका दोष तो इस बातको लेकर आवेगा कि उन्होंने अपने मनसे किसीको सुखी और किसीको दुःखी बनाया और

निर्दयताका दोष इसलिये आवेगा कि उन्होंने कुछ जीवोंको बेमतलब ही दुःखी बना दिया। ईश्वरमें कोई दोष घट नहीं सकता, इसलिये पूर्वकृत कर्मोंको ही लोगोंके स्वभावके भेद तथा भोगके वैषम्यमें हेतु मानना पड़ेगा।

इन सब युक्तियोंसे यह सिद्ध होता है कि प्राणियोंका पुनर्जन्म होता है। अब जब यह सिद्ध हो गया कि पुनर्जन्म होता है, तब दूसरा प्रश्न यह होता है कि ऐसी स्थितिमें मनुष्यको क्या करना चाहिये। विचार करनेपर मालूम होता है कि शाश्वत एवं निरतिशय सुखकी प्राप्ति तथा दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा पा जाना ही जीवमात्रका ध्येय है और उसीके लिये मनुष्यको यत्नवान् होना चाहिये। शास्त्रोंमें पुनर्जन्मको ही दुःखका घर बतलाया है और परमात्माकी प्राप्ति ही इस दुःखसे छूटनेका एकमात्र उपाय है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

(८। १५)

‘परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभंगुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।’

इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्माकी प्राप्ति ही दुःखोंसे सदाके लिये छूटनेका एकमात्र उपाय है और यह मनुष्य-जन्ममें ही सम्भव है। अतः जो इस जन्मको पाकर

परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं, वे ही संसारमें धन्य हैं और वे ही बुद्धिमान् एवं चतुर हैं। मनुष्य-जन्मको पाकर जो इसे विषय-भोगमें ही गँवा देते हैं, वे अत्यन्त जडमति हैं और शास्त्रोंने उनको कृतघ्न एवं आत्महत्यारा बतलाया है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् उद्धवसे कहते हैं—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

(११। २०। १७)

'यह मनुष्यशरीर समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका आदिकारण तथा अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी ईश्वरकी कृपासे हमारे लिये सुलभ हो गया है; वह इस संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये सुदृढ़ नौका है, जिसे गुरुरूप नाविक चलाता है और मैं (श्रीकृष्ण) वायुरूप होकर उसे आगे बढ़ानेमें सहायता देता हूँ। ऐसी सुन्दर नौकाको पाकर भी जो मनुष्य इस भवसागरको नहीं तरता, वह निश्चय ही आत्माका हनन करनेवाला अर्थात् पतन करनेवाला है।'

गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(रामचरित०, उत्तर० ४४)

यहाँ यह प्रश्न होता है कि इसके लिये हमें क्या करना चाहिये। इसका उत्तर हमें स्वयं भगवान्‌के शब्दोंमें इस प्रकार मिलता है। वे कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

(गीता ६। ५)

'मनुष्यको चाहिये कि वह अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले।'

उद्धारका अर्थ है उत्तम गुणों एवं उत्तम भावोंका संग्रह एवं उत्तम आचरणोंका अनुष्ठान और पतनका अर्थ है दुर्गुण एवं दुराचारोंका ग्रहण; क्योंकि इन्हींसे क्रमशः मनुष्यकी उत्तम एवं अधम गति होती है। इन्हींको भगवान्‌ने क्रमशः दैवी सम्पत्ति एवं आसुरी सम्पत्तिके नामसे गीताके सोलहवें अध्यायमें वर्णन किया है और यह भी बतलाया है कि दैवी सम्पत्ति मोक्षकी ओर ले जानेवाली है—'**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**' और आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली अर्थात् बार-बार संसारचक्रमें गिरानेवाली है—'**निबन्धायासुरी मता।**' यही नहीं, आसुरी सम्पदावालोंके आचरणोंका वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि 'उन अशुभ आचरणवाले द्वेषी, क्रूर (निर्दय) एवं मनुष्योंमें अधम पुरुषोंको मैं संसारमें बार-बार पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनियोंमें गिराता हूँ और जन्म-जन्ममें उन योनियोंको प्राप्त हुए वे मूढ़ पुरुष मुझे न पाकर उससे भी अधम

गति (घोर नरकों)-को प्राप्त होते हैं।'* इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तम गुण, भाव और आचरण ही ग्रहण करनेयोग्य हैं और दुर्गुण, दुर्भाव तथा दुराचार त्यागनेयोग्य हैं। गीताके १३ वें अध्यायके ७ वेंसे ११ वें श्लोकतक भगवान्‌ने इन्हींको ज्ञान और अज्ञानके नामसे वर्णन किया है। ज्ञानके नामसे वहाँ जिन गुणोंका वर्णन किया गया है, वे आत्माका उद्धार करनेवाले—ऊपर उठानेवाले हैं और इससे विपरीत जो अज्ञान है—'**अज्ञानं यदतोऽन्यथा**', वह गिरानेवाला—पतन करनेवाला है।

सद्‌गुण और सदाचार कौन हैं तथा दुर्गुण एवं दुराचार कौन-से हैं, ग्रहण करनेयोग्य आचरण कौन हैं तथा त्यागने योग्य कौन-से हैं—इसका निर्णय हम शास्त्रोंद्वारा ही कर सकते हैं। शास्त्र ही इस विषयमें प्रमाण हैं। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(१६। २४)

---

* तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(१६। १९-२०)

'इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है।'

यदि नाना प्रकारके शास्त्रोंको देखनेसे तथा उनमें कहीं-कहीं आये हुए परस्परविरोधी वाक्योंको पढ़नेसे बुद्धि भ्रमित हो जाय और शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यका निर्णय न कर सके तो पूर्वकालमें हमारी दृष्टिमें शास्त्रके मर्मको जाननेवाले जो भी महापुरुष हो गये हों उनके बतलाये हुए मार्गका अनुसरण करना चाहिये। शास्त्रोंकी भी यही आज्ञा है। महाभारतकार कहते हैं—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(वन० ३१३। ११७)

'धर्मके विषयमें तर्ककी कोई प्रतिष्ठा (स्थिरता) नहीं, श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न तात्पर्यवाली हैं तथा ऋषि-मुनि भी कोई एक नहीं हुआ है जिससे उसीके मतको प्रमाणस्वरूप माना जाय, धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ है, अर्थात् धर्मकी गति अत्यन्त गहन है, इसलिये (मेरी समझमें) जिस मार्गसे कोई महापुरुष गया हो, वही मार्ग है, अर्थात् ऐसे महापुरुषका अनुकरण करना ही धर्म

है।' उन्हींके आचरणको अपना आदर्श बना लेना चाहिये और उसीके अनुसार चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

यदि किसीको ऐसे महापुरुषोंके मार्गमें भी संशय हो तो फिर उसे यही उचित है कि वह वर्तमानकालके किसी जीवित सदाचारी महात्मा पुरुषको—जिसमें भी उसकी श्रद्धा हो और जिसे वह श्रेष्ठ महापुरुष समझता हो—अपना आदर्श बना ले और उनके बतलाये हुए मार्गको ग्रहण करे, उनके आदेशके अनुसार चले। और यदि किसीपर भी विश्वास न हो तो अपने अन्तरात्मा, अपनी बुद्धिको ही पथप्रदर्शक बना ले—एकान्तमें बैठकर विवेक-वैराग्ययुक्त बुद्धिसे शान्ति एवं धीरजके साथ स्वार्थत्यागपूर्वक निष्पक्षभावसे विचार करे कि मेरा ध्येय क्या है, मुझे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। इस प्रकार अपने हिताहितका विचार करके संसारमें कौन-सी वस्तु मेरे लिये ग्राह्य है और कौन-सी अग्राह्य है, इसका निर्णय कर ले और फिर दृढ़तापूर्वक उस निश्चयपर स्थित हो जाय। जो मार्ग उसे ठीक मालूम हो, उसपर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हो जाय और जो आचरण उसे निषिद्ध जँचें उन्हें छोड़नेकी प्राणपणसे चेष्टा करे, भूलकर भी उस ओर न जाय। इस प्रकार निष्पक्षभावसे विचार करनेपर, अन्तरात्मासे पूछनेपर भी उसे भीतरसे यही उत्तर मिलेगा कि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और परोपकार आदि ही श्रेष्ठ हैं; हिंसा,

असत्य, व्यभिचार और दूसरेका अनिष्ट आदि करनेके लिये उसका अन्तरात्मा उसे कभी न कहेगा। नास्तिक-से-नास्तिकको भी भीतरसे यही आवाज सुनायी देगी। इस प्रकार अपना लक्ष्य स्थिर कर लेनेके बाद फिर कभी उसके विपरीत आचरण न करे। अच्छी प्रकार निर्धारित किये हुए अपने ध्येयके अनुसार चलना ही आत्माका उत्थान करना है और उस निश्चयके अनुसार न चलकर उसके विपरीत मार्गपर चलना ही उसका पतन है। जो आचरण अपनी दृष्टिमें तथा दूसरोंकी दृष्टिमें भी हेय है, उसे जान-बूझकर करना मानो अपने-आप ही फाँसी लगाकर मरना, अपने ही पैरोंपर कुल्हाड़ी मारना, अपने ही हाथों अपना अहित करना है। इसीलिये भगवान् कहते हैं— '**नात्मानमवसादयेत्**' (गीता ६।५), जान-बूझकर अपने-आप अपना पतन न करे।

हमारे शास्त्रोंमें मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले कुछ दोष गिनाये हैं और साथ ही मन, वाणी और शरीरके पाँच-पाँच तप भी बतलाये हैं। आत्माका उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह उपर्युक्त मन, वाणी और शरीरके दोषोंका त्याग करे और शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक—तीनों प्रकारके तपका आचरण करे। शरीरसे होनेवाले दोष तीन हैं—बिना दिया हुआ धन

लेना, शास्त्रविरुद्ध हिंसा और परस्त्रीगमन।[१] वाचिक पाप चार हैं—कठोर वचन कहना, झूठ बोलना, चुगली करना और बे-सिर-पैरकी ऊल-जलूल बातें करना।[२] मानसिक पाप तीन हैं—दूसरेका माल मारनेका दाँव सोचना, मनसे दूसरेका अनिष्टचिन्तन करना और मैं शरीर हूँ—इस प्रकारका झूठा अभिमान करना।[३]

इन त्रिविध पापोंका नाश करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें तीन प्रकारके तप बतलाये हैं—शारीरिक तप, वाचिक तप और मानस तप। उक्त तीन प्रकारके तपका स्वरूप भगवान्ने इस प्रकार बतलाया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता १७। १४)

---

१. अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥
(मनु० १२। ७)

२. पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥
(मनु० १२। ६)

३. परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥
(मनु० १२। ५)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु (माता-पिता एवं आचार्य आदि) और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा— यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(गीता १७। १५)

'जो उद्वेगको न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठन एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

(गीता १७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणकी पवित्रता— इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि वह उपर्युक्त तीनों प्रकारके तपका सात्त्विक* भावसे अभ्यास करे।

---

* श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥
(गीता १७। १७)

अन्तमें हम एक बात और कहकर इस लेखको समाप्त करते हैं। दुःखरूप संसारसे छूटनेका एक सर्वोत्तम उपाय है—परमात्माकी शरण लेकर विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिसे दुःख, शोक, भय और चिन्ताका त्याग। इसपर यदि कोई कहे कि दुःख-सुख तो प्रारब्धके अनुसार भोगने ही पड़ते हैं तो इसका उत्तर यह है कि दुःख-सुखके निमित्तोंका प्राप्त होना और हट जाना ही प्रारब्धका फल है, उन निमित्तोंको लेकर हमें जो चिन्ता, शोक, भय एवं विषाद होता है वह हमारी मूर्खतासे होता है, अज्ञानसे होता है। उनके होनेमें प्रारब्ध हेतु नहीं है। पुत्रका वियोग हो जाना, धनका अपहरण हो जाना, व्यापारमें घाटा लग जाना, इज्जत-आबरूका चला जाना, बीमारी और अपकीर्तिका होना— ये सब घटनाएँ प्रारब्धके कारण होती हैं; परंतु इनसे जो हमें विषाद होता है, उसमें हमारा अज्ञान हेतु है, प्रारब्ध नहीं। यदि हम स्वयं इन घटनाओंसे दुःखी न हों तो इन घटनाओंकी ताकत नहीं कि वे हमें दुःखी कर सकें। यदि इन घटनाओंमें दुःखी करनेकी शक्ति होती तो उनसे ज्ञानियोंको भी दुःख होता; परन्तु ज्ञानी जीवन्मुक्त महापुरुषोंके लिये शास्त्र डंकेकी चोट

'फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं।'

यह कहते हैं कि उन्हें अप्रिय-से-अप्रिय घटनाको लेकर भी दुःख नहीं होता, वे सुख-दुःखसे परे हो जाते हैं। उनकी दृष्टिमें प्रिय-अप्रिय कुछ रह नहीं जाता। उनके विषयमें श्रुति कहती है—'**तरति शोकमात्मवित्।**' (छा० ७।१।३) आत्माको जान लेनेवाला शोकसे तर जाता है। '**हर्षशोकौ जहाति**' (कठ० १।२।१२) —ज्ञानी पुरुष हर्ष और शोकका त्याग कर देता है, दोनों ही स्थितियोंको लाँघ जाता है। '**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः**' (ईश० ७)—सर्वत्र एक परमात्माको ही देखनेवाले आत्मदर्शी पुरुषके लिये शोक और मोहका कोई कारण नहीं रह जाता। भगवान् भी गीतामें अर्जुनसे अपने उपदेशके प्रारम्भमें ही कहते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

(२।११)

'हे अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।'

इससे यह सिद्ध होता है कि शोक न करना हमारे

हाथमें है। यदि ऐसी बात न होती और इसका सम्बन्ध प्रारब्धसे होता तो ज्ञानोत्तर कालमें ज्ञानीको भी शोक होता और भगवान् भी शोक छोड़नेके लिये अर्जुनको कभी न कहते। शरीरोंका उत्पत्ति-विनाश और क्षय-वृद्धि तथा सांसारिक पदार्थोंका संयोग-वियोग ही प्रारब्धसे सम्बन्ध रखता है; उनके विषयमें जो चिन्ता, भय और शोक होता है वह अज्ञानके कारण ही होता है। सांसारिक विपत्तिके आनेपर भी जो शोक नहीं करते—रोते नहीं, उनकी उससे कोई हानि नहीं होती। अतः परमात्माकी शरण ग्रहण करके प्रमाद, आलस्य, पाप, भोग, शोक-मोह, विषाद, चिन्ता एवं भयका त्याग कर हमें परमात्माके स्वरूपमें अचलभावसे स्थित हो जाना चाहिये।

❑❑

वैराग्य

वैराग्यका महत्त्व

कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषको वैराग्य-साधनकी परम आवश्यकता है। वैराग्य हुए बिना आत्माका उद्धार कभी नहीं हो सकता। सच्चे वैराग्यसे सांसारिक भोग-पदार्थोंके प्रति उपरामता उत्पन्न होती है। उपरामतासे परमेश्वरके स्वरूपका यथार्थ ध्यान होता है। ध्यानसे परमात्माके स्वरूपका वास्तविक ज्ञान होता है और ज्ञानसे उद्धार होता है। जो लोग ज्ञान-सम्पादनपूर्वक मुक्ति प्राप्त करनेमें वैराग्य और उपरामताकी कोई आवश्यकता नहीं समझते, उनकी मुक्ति वास्तवमें मुक्ति न होकर केवल भ्रम ही होता है। वैराग्य-उपरामतारहित ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं, वह केवल वाचिक और शास्त्रीय ज्ञान है जिसका फल मुक्ति नहीं, प्रत्युत और भी कठिन बन्धन है। इसीलिये श्रुति कहती है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँ्रताः॥

(ईशोपनिषद् ९)

‘जो अविद्याकी उपासना करते हैं वे अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो विद्यामें रत हैं वे उससे भी

अधिक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं।' ऐसा वाचिक ज्ञानी निर्भय होकर विषयभोगोंमें प्रवृत्त हो जाता है, वह पापको भी पाप नहीं समझता, इसीसे वह विषयरूपी दलदलमें फँसकर पतित हो जाता है। ऐसे ही लोगोंके लिये यह उक्ति प्रसिद्ध है—

ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय।
तुलसी ऐसी आत्मा, सहज नरक महँ जाय॥

वास्तवमें ज्ञानके नामपर महान् अज्ञान ग्रहण कर लिया जाता है। अतएव यदि यथार्थ कल्याणकी इच्छा हो तो साधकको सच्चा दृढ़ वैराग्य उपार्जन करना चाहिये। किसी स्वाँग-विशेषका नाम वैराग्य नहीं है। किसी कारणवश या मूढ़तासे स्त्री, पुत्र, परिवार, धनादिका त्याग कर देना, कपड़े रँग लेना, सिर मुड़वा लेना, जटा बढ़ाना या अन्य बाह्य चिह्नोंका धारण करना वैराग्य नहीं कहलाता। मनसे विषयोंमें रमण करते रहना और ऊपरसे स्वाँग बना लेना तो मिथ्याचार—दम्भ है। भगवान् कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

(गीता ३। ६)

'जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंके भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।'

सम्प्रति दम्भका बहुत विस्तार हो रहा है, कोई लोगोंको ठगनेके लिये दिखाऊ मौन धारण करता है, कोई आसन लगाकर बैठता है, कोई विभूति रमाता है, कोई केश बढ़ाता है, कोई धूनी तपता है—

जटिलो मुण्डी लुञ्चितकेशः
काषायाम्बरबहुकृतवेषः ।
पश्यन्नपि च न पश्यति लोको
ह्युदरनिमित्तं बहुकृतशोकः ॥

(स्वा० शंकराचार्यस्य चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रात्)

इनमेंसे कोई-सा भी वैराग्य नहीं है। मेरे इस कथनका यह अभिप्राय नहीं कि मैं स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, शिखा-सूत्रादि तथा कर्मोंके स्वरूपसे त्याग करनेको बुरा समझता हूँ। न यही समझना चाहिये कि मौन धारण करना, आसन लगाना, विभूति रमाना, केश बढ़ाना या मुड़वाना आदि कार्य अशास्त्रीय और निन्दनीय हैं। न मेरा यही कथन है कि घर-बार त्यागकर इन चिह्नोंके धारण करनेवाले सभी लोग पाखण्डी हैं। उपर्युक्त कथन किसीकी निन्दा या किसीपर भी घृणा करनेके लिये नहीं समझना चाहिये। मेरा अभिप्राय यहाँ उन लोगोंसे है जो वैराग्यके नामपर पूजा पाने और लोगोंपर अनधिकार रोब जमाकर उन्हें ठगनेके लिये नाना भाँतिके स्वाँग सजते हैं। जो

साधक संयमके लिये, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये, साधन बढ़नेके लिये ऐसा करते हैं उनकी कोई निन्दा नहीं है। भगवान्‌ने भी मिथ्याचारी उन्हींको बतलाया है जो बाहरसे संयमका स्वाँग सजकर मन-ही-मन विषयोंका मनन करते रहते हैं। जो पुरुष चित्तकी वृत्तियोंको भगवच्चिन्तनमें नियुक्तकर सच्ची वैराग्य-वृत्तिसे बाह्याभ्यन्तर त्याग करते हैं उनकी तो सभी शास्त्रोंने प्रशंसा की है।

वैराग्य बहुत ही रहस्यका विषय है, इसका वास्तविक तत्त्व विरक्त महानुभाव ही जानते हैं। वैराग्यकी पराकाष्ठा उन्हीं पुरुषोंमें पायी जाती है जो जीवन्मुक्त महात्मा हैं—जिन्होंने परमात्मरसमें डूबकर विषय-रससे अपनेको सर्वथा मुक्त कर लिया है।

भगवान् कहते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २।५९)

‘इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको न ग्रहण करनेवाले पुरुषके केवल विषय निवृत्त हो जाते हैं, रस (राग) नहीं निवृत्त होता, परन्तु जीवन्मुक्त पुरुषका तो राग भी परमात्माको साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है।’

अब हमें वैराग्यके स्वरूप, उसकी प्राप्तिके उपाय, वैराग्यप्राप्त पुरुषोंके लक्षण और फलके विषयमें कुछ विचार करना चाहिये। साधनकालमें वैराग्यकी दो श्रेणियाँ हैं। जिनको गीतामें वैराग्य और दृढ़ वैराग्य, योगदर्शनमें वैराग्य और परवैराग्य एवं वेदान्तमें वैराग्य और उपरतिके नामसे कहा है। यद्यपि उपर्युक्त तीनोंमें ही परस्पर शब्द और ध्येयमें कुछ-कुछ भेद है, परन्तु बहुत अंशमें यह मिलते-जुलते शब्द ही हैं। यहाँ लक्ष्यके लिये ही तीनोंका उल्लेख किया गया है।

वैराग्यका स्वरूप

योगदर्शनमें यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार-भेदसे वैराग्यकी चार संज्ञाएँ टीकाकारोंने बतलायी हैं, उसकी विस्तृत व्याख्या भी की है। वह व्याख्या सर्वथा युक्तियुक्त और माननीय है। तथापि यहाँ संक्षेपसे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार वैराग्यके कुछ रूप बतलानेकी चेष्टा की जाती है, जिससे सरलतापूर्वक सभी लोग इस विषयको समझ सकें।

भयसे होनेवाला वैराग्य—संसारके भोग भोगनेसे परिणाममें नरककी प्राप्ति होगी। क्योंकि भोगमें संग्रहकी आवश्यकता है, संग्रहके लिये आरम्भ आवश्यक है, आरम्भमें पाप होता है, पापका फल नरक या दुःख है। इस तरह

भोगके साधनोंमें पाप और पापका परिणाम दुःख समझकर उसके भयसे विषयोंसे अलग होना भयसे उत्पन्न वैराग्य है।

विचारसे होनेवाला वैराग्य—जिन पदार्थोंको भोग मानकर उनके संगसे आनन्दकी भावना की जाती है, जिनकी प्राप्तिमें सुखकी प्रतीति होती है, वे वास्तवमें न भोग्य हैं, न सुखके साधन हैं, न उनमें सुख है। दुःखपूर्ण पदार्थोंमें—दुःखमें ही अविचारसे सुखकी कल्पना कर ली गयी है। इसीसे वे सुखरूप भासते हैं, वास्तवमें तो दुःख या दुःखके ही कारण हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

‘जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी निस्सन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान्, विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।’ अनित्य न प्रतीत हों तो इनको क्षणभंगुर समझकर सहन करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(गीता २। १४)

'हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो क्षणभंगुर और अनित्य हैं, इसलिये हे भारत! उनको तू सहन कर।' अगले श्लोकमें इस सहनशीलताका यह फल भी बतलाया है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(गीता २। १५)

'दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको यह इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं कर सकते वह मोक्षके लिये योग्य होता है।' आगे चलकर भगवान्‌ने यह स्पष्ट कह दिया है कि जो पदार्थ विचारसे असत् ठहरता है वह वास्तवमें है ही नहीं। यही तत्त्वदर्शियोंका निर्णीत सिद्धान्त है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

'हे अर्जुन! असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है, इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इस प्रकारके विवेकद्वारा उत्पन्न वैराग्य 'विचारसे उत्पन्न होनेवाला वैराग्य' है।

***साधनसे होनेवाला वैराग्य*—जब मनुष्य साधन**

करते–करते प्रेममें विह्वल होकर भगवान्‌के तत्त्वका अनुभव करने लगता है तब उसके मनमें भोगोंके प्रति स्वतः ही वैराग्य उत्पन्न होता है। उस समय उसे संसारके समस्त भोग्य–पदार्थ प्रत्यक्ष दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं। सब विषय भगवत्प्राप्तिमें स्पष्ट बाधक दीखते हैं।

जो स्त्री–पुत्रादि अज्ञानीकी दृष्टिमें रमणीय, सुखप्रद प्रतीत होते हैं, वही उसकी दृष्टिमें घृणित और दुःखप्रद प्रतीत होने लगते हैं*। धन–मकान, रूप–यौवन, गाड़ी–मोटर, पद–गौरव, शान–शौकीनी, विलासिता–सजावट आदि सभीमें उसकी विषवत् बुद्धि हो जाती है और उनका संग उसे साक्षात् कारागारसे भी अधिक बन्धनकारक, दुःखदायी तथा घृणास्पद बोध होने लगता है। मान–बड़ाई, पूजा–प्रतिष्ठा, सत्कार–सम्मान आदिसे वह इतना डरता है जितना साधारण मनुष्य सिंह–व्याघ्र, भूत–प्रेत और यमराजसे डरता है। जहाँ उसे सत्कार, पूजा या सम्मान मिलनेकी किंचित् भी सम्भावना होती है, वहाँ जानेमें उसे बड़ा भय मालूम होता है, अतः ऐसे स्थानोंको वह दूरसे ही त्याग देता है। जिन प्रशंसा–प्रतिष्ठा, मान–सम्मानकी प्राप्तिमें साधारण

---

* इससे कोई यह न समझे कि स्त्री–पुत्रादिसे व्यवहारमें घृणा करनी चाहिये। गृहस्थ साधकको सबसे यथायोग्य प्रेमका बर्ताव करते हुए मनमें वैराग्यकी भावना रखनी चाहिये।

मनुष्य फूले नहीं समाते, उन्हींमें उसको लज्जा, संकोच और दु:ख होता है, वह उनमें अपना अध:पतन समझता है। हमलोग जिस प्रकार अपवित्र और घृणित पदार्थोंको देखनेमें हिचकते हैं, उसी प्रकार वह मान-बड़ाईसे घृणा करता है। किसीको भी प्रसन्न करने या किसीके भी दबावसे वह मान-बड़ाई स्वीकार नहीं करता । उसे वे प्रत्यक्ष नरकतुल्य प्रतीत होते हैं। जो लोग उसे मान-बड़ाई देते हैं, उनके सम्बन्धमें वह यही समझता है कि यह मेरे भोले भाई मेरी हित-कामनासे विपरीत आचरण कर रहे हैं। *'भोले साजन शत्रु बराबर'* वाली उक्ति चरितार्थ करते हैं। इसलिये वह उनकी क्षणिक प्रसन्नताके लिये उनका आग्रह भी स्वीकार नहीं करता। वह जानता है कि इसमें इनका तो कोई लाभ नहीं है और मेरा अध:पतन है। पक्षान्तरमें स्वीकार न करनेमें न दोष है, न हिंसा है और इस कार्यके लिये इन लोगोंके इस आग्रहसे बाध्य होना धर्मसम्मत भी नहीं है। धर्म तो उसे कहते हैं जो इस लोक और परलोकमें कल्याणकारी हो। जो लोक-परलोक दोनोंमें अहितकर है वह कल्याण नहीं, अकल्याण ही है। पुरस्कार नहीं, महान् विपद् ही है। माता-पिता मोहवश बालकके क्षणिक सुखके लिये उसे कुपथ्य सेवन कराकर अन्तमें बालकके साथ ही स्वयं भी दु:खी होते हैं। इसी प्रकार यह भोले भाई भी तत्त्व न समझनेके कारण मुझे इस पाप-पथमें ढकेलना चाहते

हैं। समझदार बालक माता-पिताके दुराग्रहको नहीं मानता तो वह दोषी नहीं होता। परिणाम देखकर या विचारकर माता-पिता भी नाराज नहीं होते। इस प्रकार विचार करनेपर ये भाई भी नाराज नहीं होंगे। यों समझकर वह किसीके द्वारा भी प्रदान की हुई मान-बड़ाई स्वीकार नहीं करता। वह समझता है कि इसके स्वीकारसे मैं अनाथकी भाँति मारा जाऊँगा। इतना त्याग मुझमें नहीं है कि दूसरोंकी जरा-सी खुशीके लिये मैं अपना सर्वनाश कर डालूँ। त्याग-बुद्धि हो तो भी विवेक ऐसे त्यागको बुद्धिमानी या उत्तम नहीं बतलाता, जो सरल-चित्त भाई अज्ञानसे साधकोंको इस प्रकार मान-बड़ाई स्वीकार करनेके लिये बाध्य कर उन्हें महान् अन्धकार और दुःखके गड्ढेमें ढकेलते हैं, परमात्मा उन्हें सद्बुद्धि प्रदान करें। जिससे वे साधकोंको इस तरह विपत्तिके भँवरमें न डालें।

साधनद्वारा इस प्रकारकी विवेकयुक्त भावनाओंसे भोगोंके प्रति जो वैराग्य होता है, वह साधनद्वारा होनेवाला वैराग्य है। इस तरहके वैरागी पुरुषको संसारके स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई, धन, ऐश्वर्य आदि उसी प्रकार कान्तिहीन और नीरस प्रतीत होते हैं, जैसे प्रकाशमय सूर्यदेवके उदय होनेपर चन्द्रमा प्रतीत हुआ करता है।

परमात्मतत्त्वके ज्ञानसे होनेवाला वैराग्य—जब साधकको परमात्माके तत्त्वकी उपलब्धि हो जाती है

तब तो संसारके सम्पूर्ण पदार्थ उसे स्वतः ही रसहीन और मायामात्र प्रतीत होने लगते हैं। फिर उसे भगवत्तत्त्वके अतिरिक्त अन्य किसीमें कुछ भी सार नहीं प्रतीत होता। जैसे मृगतृष्णाके जलको मरीचिका जान लेनेपर उसमें जल नहीं दिखायी देता, जैसे नींदसे जगनेपर स्वप्नको स्वप्न समझ लेनेपर स्वप्नके संसारका चिन्तन करनेपर भी उसमें सत्ता नहीं मालूम होती, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुषको जगत्के पदार्थोंमें सार और सत्ताकी प्रतीति नहीं होती। जैसे चतुर बाजीगरद्वारा निर्मित रम्य बगीचेमें अन्य सब मोहित होते हैं, परन्तु उसका तत्त्व जाननेवाला जमूरा उसे मायामय और निस्सार समझकर मोहित नहीं होता, (हाँ, अपने मायापति मालिककी लीला देख-देखकर आह्लादित अवश्य होता है) इसी प्रकार इस श्रेणीका वैरागी पुरुष विषय-भोगोंमें मोहित नहीं होता।

इस प्रकारके वैराग्यवान् पुरुषकी संसारके किसी भोग-पदार्थमें आस्था ही नहीं होती, तब उसमें रमणीयता और सुखकी भ्रान्ति तो हो ही कैसे सकती है? ऐसा ही पुरुष परमात्माके परमपदका अधिकारी होता है। इसीको परवैराग्य या दृढ़वैराग्य कहते हैं।

वैराग्य-प्राप्तिके उपाय

उपर्युक्त विवेचनपर विचारकर आरम्भमें साधकोंको चाहिये कि वे संसारके विषयोंको परिणाममें हानिकर

मानकर भयसे या दुःखरूप समझकर घृणासे ही उनका त्याग करें। बारम्बार वैराग्यकी भावनासे, त्यागके महत्त्वका मनन करनेसे, जगत्‌की यथार्थ स्थितिपर विचार करनेसे, मृत पुरुषों, सूने महलों, टूटे मकानों और खँडहरोंको देखने-सुननेसे, प्राचीन नरपतियोंकी अन्तिम गतिपर ध्यान देनेसे और विरक्त, विचारशील पुरुषोंका संग करनेसे ऐसी दलीलें हृदयमें स्वयमेव उठने लगती हैं, जिनसे विषयोंके प्रति विराग उत्पन्न होता है। पुत्र-परिवार, धन-मकान, मान-बड़ाई, कीर्ति-कान्ति आदि समस्त पदार्थोंमें निरन्तर दुःख और दोष देख-देखकर उनसे मन हटाना चाहिये। भगवान्‌ने कहा है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।

(गीता १३। ८-९)

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख-दोषोंका बारम्बार विचार करना तथा पुत्र, स्त्री, घर और धनादिमें आसक्ति और ममताका अभाव करना चाहिये।

विचार करनेपर ऐसी और भी अनेक दलीलें मिलेंगी जिनसे संसारके समस्त पदार्थ दुःखरूप प्रतीत होने लगेंगे।

योगदर्शनका सूत्र है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (साधनपाद १५)

'परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख तथा दुःखोंसे मिश्रित होने और गुण-वृत्ति-विरोध होनेसे भी विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें समस्त विषयसुख दुःखरूप ही हैं।' अब यहाँ इसका कुछ खुलासा कर दिया जाता है—

परिणामदुःखता—जो सुख आरम्भमें सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें महान् दुःखरूप हो, वह सुख परिणामदुःखता कहलाता है। जैसे रोगीके लिये आरम्भमें जीभको स्वाद लगनेवाला कुपथ्य! वैद्यके मना करनेपर भी इन्द्रियासक्त रोगी आपात-सुखकर पदार्थको स्वादवश खाकर अन्तमें दुःख उठाता, रोता, चिल्लाता है, इसी प्रकार विषयसुख आरम्भमें रमणीय और सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें महान् दुःखकर हैं। भगवान् कहते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(गीता १८। ३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है वह यद्यपि भोगकालमें अमृतके सदृश भासता है, परन्तु परिणाममें वह (बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और

परलोकका नाशक होनेसे) विषके सदृश है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

दादकी खाज खुजलाते समय बहुत ही सुखद मालूम होती है। परन्तु परिणाममें जलन होनेपर वही महान् दुःखद हो जाती है। यही विषय-सुखोंका परिणाम है। इस लोक और परलोकके सभी विषय-सुख परिणामदुःखताके लिये हुए हैं। बड़े पुण्यसंचयसे लोगोंको स्वर्गकी प्राप्ति होती है परन्तु **'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'** वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इसलिये गोसाईंजी महाराजने कहा है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

तापदुःखता—पुत्र, स्त्री, स्वामी, धन, मकान आदि सभी पदार्थ हर समय ताप देते—जलाते रहते हैं। कोई विषय ऐसा नहीं है जो विचार करनेपर जलानेवाला प्रतीत न हो। इसके सिवा जब मनुष्य अपनेसे दूसरोंको किसी भी विषयमें अधिक बढ़ा हुआ देखता है तब अपने अल्प सुखके कारण उसके हृदयमें बड़ी जलन होती है। विषयोंकी प्राप्ति, उनके संरक्षण और नाशमें भी सदा जलन बनी ही रहती है। कहा है—

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २३। १७)

'धन कमानेमें कई तरहके सन्ताप, उपार्जन हो जानेपर उसकी रक्षामें सन्ताप, कहीं किसीमें डूब न जाय, इस चिन्तानलमें सदा ही जलना पड़ता है, नाश हो जाय तो जलन, खर्च हो जाय तो जलन, छोड़कर मरनेमें जलन, मतलब यह कि आदिसे अन्ततक केवल सन्ताप ही रहता है।' इसलिये इसको धिक्कार दिया गया। यही हाल पुत्र, मान-बड़ाई आदिका है। सभीमें प्राप्तिकी इच्छासे लेकर वियोगतक सन्ताप बना रहता है। ऐसा कोई विषयसुख नहीं जो सन्ताप देनेवाला न हो।

संस्कारदुःखता—आज स्त्री-स्वामी, पुत्र-परिवार, धन-मानादि जो विषय प्राप्त हैं, उनके संस्कार हृदयमें अंकित हो चुके हैं, इसलिये उनके समाप्त होनेपर संस्कारोंके कारण उन वस्तुओंका अभाव महान् दुःखदायी होता है। मैं कैसा था, मेरा पुत्र सुन्दर, सुडौल और आज्ञाकारी था, मेरी स्त्री कितनी सुशीला थी, मेरे पितासे मुझे कितना सुख मिलता था, मेरी बड़ाई जगत्‌भरमें छा रही थी, मेरे पास लाखों रुपये थे। परन्तु आज मैं क्या-से-क्या हो गया। मैं सब तरहसे दीन-हीन हो गया, यद्यपि उसीके समान जगत्‌में लाखों-करोड़ों मनुष्य आरम्भसे ही इन

विषयोंसे रहित हैं परन्तु वे ऐसे दुःखी नहीं हैं। जिसके विषय-भोगोंकी बाहुल्यताके समय सुखोंके संस्कार होते हैं उसे ही उनके अभावकी प्रतीति होती है। अभावकी प्रतीतिमें दुःख भरा हुआ है। यही संस्कारदुःखता है।

इसके सिवा यह बात भी सर्वथा ध्यानमें रखनी चाहिये कि संसारके सभी विषय-सुख सभी अवस्थामें दुःखसे मिश्रित हैं।

गुण-वृत्तियोंके विरोधजन्य दुःख—एक मनुष्यको कुछ झूठ बोलने या छल-कपट, विश्वासघात करनेसे दस हजार रुपये मिलनेकी सम्भावना प्रतीत होती है। उस समय उसकी सात्त्विकी वृत्ति कहती है—'पाप करके रुपये नहीं चाहिये, भीख माँगना या मर जाना अच्छा है, परन्तु पाप करना उचित नहीं।' उधर लोभमूलक राजसी वृत्ति कहती है। 'क्या हर्ज है। एक बार तनिक-सी झूठ बोलनेमें आपत्ति ही कौन-सी है? जरा-से छल-कपट या विश्वासघातसे क्या होगा? एक बार ऐसा करके रुपये कमाकर दारिद्र्य मिटा लें, भविष्यमें ऐसा नहीं करेंगे।'

यों सात्त्विकी और राजसी वृत्तिमें महान् युद्ध मच जाता है, इस झगड़ेमें चित्त अत्यन्त व्याकुल और किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठता है। विषाद और उद्विग्नताका पार नहीं रहता।

इसी तरह राजसी, तामसी वृत्तियोंका झगड़ा होता है। एक मनुष्य शतरंज या ताश खेल रहा है। उधर उसके समयपर न पहुँचनेसे घरका आवश्यक काम बिगड़ता है। कर्ममें प्रवृत्ति करानेवाली राजसी वृत्ति कहती है—'उठो, चलो हर्ज हो रहा है, घरका काम करो।' इधर प्रमादरूपा तामसी वृत्ति पुनः-पुनः उसे खेलकी ओर खींचती है, वह बेचारा इस दुविधामें पड़कर महान् दुःखी हो जाता है।

उदाहरणके लिये दो दृष्टान्त ही पर्याप्त हैं।

इस प्रकार विचार करनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि संसारके सभी सुख दुःखरूप हैं। अतएव इनसे मन हटानेकी भरपूर चेष्टा करनी चाहिये।

उपर्युक्त भयसे और विचारसे होनेवाले दोनों प्रकारके वैराग्योंको प्राप्त करनेके यही उपाय हैं, यह उपाय पूर्वापेक्षा उत्तम श्रेणीके वैराग्य-सम्पादनमें भी अवश्य ही सहायक होते हैं। परन्तु अगले दोनों वैराग्योंकी प्राप्तिमें निम्नलिखित साधन विशेष सहायक होते हैं।

परमात्माके नाम-जप और उनके स्वरूपका निरन्तर स्मरण करते रहनेसे हृदयका मल ज्यों-ज्यों दूर होता है, त्यों-त्यों उसमें उज्ज्वलता आती है। ऐसे उज्ज्वल और शुद्ध अन्तःकरणमें वैराग्यकी लहरें उठती हैं, जिनसे

विषयानुराग मनसे स्वयमेव ही हट जाता है। इस अवस्थामें विशेष विचारकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे मैले दर्पणको रूईसे घिसनेपर ज्यों-ज्यों उसका मैल दूर होता है, त्यों-ही-त्यों वह चमकने लगता है और उसमें मुखका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी पड़ता है, इसी प्रकार परमात्माके भजन-ध्यानरूपी रूईकी चालू रगड़से अन्तःकरणरूपी दर्पणका मल दूर होनेपर वह चमकने लगता है और उसमें सुखस्वरूप आत्माका प्रतिबिम्ब दीखने लगता है। ऐसी स्थितिमें जरा-सा भी बाकी रहा हुआ विषय-मलका दाग साधकके हृदयमें शूल-सा खटकता है। अतएव वह उत्तरोत्तर अधिक उत्साहके साथ उस दागको मिटानेके लिये भजन-ध्यानमें तत्पर होकर अन्तमें उसे सर्वथा मिटाकर ही छोड़ता है। ज्यों-ज्यों भजन-ध्यानसे अन्तःकरणरूपी दर्पणकी सफाई होती है, त्यों-त्यों साधककी आशा और उसका उत्साह बढ़ता रहता है, भजन-ध्यानरूपी साधन, तत्त्व न समझनेवाले मनुष्यको ही भाररूप प्रतीत होते हैं। जिसको इनके तत्त्वका ज्ञान होने लगा है, वह तो उत्तरोत्तर आनन्दकी उपलब्धि करता हुआ पूर्णानन्दकी प्राप्तिके लिये भजन-ध्यान बढ़ाता ही रहता है। उसकी दृष्टिमें विषयोंमें दीखनेवाले विषय-सुखकी कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। इससे उसे दृढ़ वैराग्यकी बहुत शीघ्र प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने इस दृढ़ वैराग्यरूपी

शस्त्रद्वारा ही अहंता, ममता और वासनारूप अतिदृढ़ मूलवाले संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको काटनेके लिये कहा है—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

(गीता १५। ३)

संसारके चित्रको सर्वथा भुला देना ही इस अश्वत्थ-वृक्षका छेदन करना है। दृढ़ वैराग्यसे यह काम सहज ही हो सकता है। भगवान् कहते हैं—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं-
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(गीता १५। ४)

'इसके उपरान्त उस परमपदरूप परमेश्वरको अच्छी प्रकार खोजना चाहिये, (उस परमात्माके विज्ञान-आनन्दघन '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' का बारम्बार चिन्तन करना ही उसे ढूँढ़ना है) जिसमें गये हुए पुरुष फिर वापस संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे यह पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है। उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ (उस परमपदके स्वरूपको पकड़ लेना—उसमें स्थित हो जाना ही उसकी शरण होना है)।' इस प्रकार शरण होनेपर—

निर्मानमोहा जितसंगदोषा-
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

(गीता १५।५)

'नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिन्होंने और परमात्माके स्वरूपमें है निरन्तर स्थिति जिनकी तथा अच्छी तरह नष्ट हो गयी है कामना जिनकी, ऐसे वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त हुए ज्ञानीजन, उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं।'

वैराग्यका फल

बस, इस प्रकार एक परमात्माका ज्ञान रह जाना ही अटल समाधि या जीवन्मुक्त-अवस्था है, उसीके यह लक्षण हैं। तदनन्तर ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष भगवान्‌के भक्त संसारमें किस प्रकार विचरते हैं, उनकी कैसी स्थिति होती है, इसका विवेचन गीताके अध्याय १२ के श्लोक १३ से १९ तक निम्नलिखित रूपमें है, भगवान् उनके लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

'इस प्रकार शान्तिको प्राप्त हुआ जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपना अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है। जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ, निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है, मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए, मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है। जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं

होता एवं जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह मुझे प्रिय है। जो पुरुष आकांक्षासे रहित, बाहर-भीतर शुद्ध, चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह सब आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन, वाणी, शरीरद्वारा प्रारब्धसे होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी मेरा भक्त मुझे प्रिय है। जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है। जो पुरुष शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है तथा जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट और रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिर बुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।

अतएव इस असार-संसारसे मन हटाकर इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्यवान् होकर सबको परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

❑❑

वैराग्य-चर्चा

वैराग्यका विषय बड़े ही महत्त्वका है। वन हो, पहाड़ हो, गंगाका किनारा हो—ऐसे स्थलोंमें वैराग्यकी चर्चा अधिक शोभा देती है। ऋषि-महात्मालोग वनों, पहाड़ों और गंगातटपर रहकर ही तप किया करते थे। अब भी उत्तराखण्डमें रहनेसे स्वाभाविक ही वैराग्य होता है। वहाँके स्थानोंमें वैराग्यके परमाणु ओत-प्रोत हैं। वैराग्यके योग्य भूमि हो, वक्ता वैराग्यमय हो और श्रोता सत्पात्र हो तो वैराग्यका वर्णन करते ही वैराग्य जाग्रत् हो जाता है—वैसे ही, जैसे कामीके हृदयमें कामिनीके वर्णनसे काम जाग्रत् हो जाता है। वैराग्यकी बात वैराग्यवान् ही कह सकता है। सच्चे वैराग्यवान् पुरुषको तो कहनेकी भी जरूरत नहीं पड़ती, उसके साथ तो वैराग्य मूर्तिमान् होकर चलता है। वह जिस मार्गसे जाता है, उस मार्गमें मानो वैराग्यकी बाढ़ आ जाती है। उसके नेत्रोंसे वैराग्यका भाव निकलकर सब जगह व्याप्त हो जाता है।

वैराग्यके साथ उपरामता लगी रहती है और उसके साथ भगवान्‌का ध्यान लगा रहता है। आगे वैराग्य, बीचमें उपरामता, पीछे ध्यान, इस प्रकार तीनों साथ-साथ चलते हैं—जैसे वन जाते समय राम, सीता और

लक्ष्मण चलते हैं। रामके साथ सीता रहती ही हैं, साथ ही रामके बिना लक्ष्मणको चैन नहीं और लक्ष्मणके बिना रामको चैन नहीं रहता। राम सीताको बीचमें रखते हैं। जहाँ सच्चा वैराग्य हो, ध्यान होता हो, साधन तीव्र हो, वहाँ उपरामता रहती ही है।

वैराग्यवान्के दर्शनमात्रसे वैराग्य हो जाता है, फिर उसके इशारेसे—व्याख्यानसे वैराग्य हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? वैराग्यवान्के व्याख्यानसे तो वेश्याका हृदय भी पलट जाता है। दत्तात्रेयजीके दर्शनसे ही एक वेश्याको वैराग्य हो गया। भक्त हरिदासजीके सम्पर्कमें आकर एक दूसरी वेश्या वैराग्यवती हो गयी। इसी प्रकार और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

शुकदेवजी राजा परीक्षित्की सभामें जा रहे हैं, रास्तेमें बालक उनके ऊपर धूल फेंकते हैं, पर वे उनकी ओर ध्यानतक नहीं देते, अपनी मस्तीमें चले जाते हैं। सभामें पहुँचनेपर उनका महान् आदर होता है। शुकदेवजीमें अलौकिक उपरामता थी, अलौकिक वैराग्य था। नदीके किनारे स्त्रियाँ नहा रही थीं। शुकदेवजी उसी मार्गसे होकर निकल गये, पर किसीने लज्जा नहीं की। जब वेदव्यासजी आये तो उनको देखकर सभी स्त्रियोंने लज्जावश कपड़े पहन लिये। वेदव्यासजीने इसका कारण पूछा,

तब स्त्रियोंने कहा कि 'शुकदेवजीकी दृष्टिमें स्त्री–पुरुषका भेद ही नहीं है। आप हमें स्त्री समझते हैं, इसलिये हमने मर्यादावश आपको देखकर कपड़े पहन लिये।' इतनी भारी उपरामता शुकदेवजीमें थी।

जडभरतजीपर भी वैराग्यका इतना नशा चढ़ा रहता था, मानो किसीने शराब पी ली हो! शराबका नशा तामसिक है, अन्नका राजसिक है और वैराग्यका सात्त्विक है। जडभरत वैराग्य और उपरामताके सात्त्विक नशेमें चूर रहते थे। तीनों जन्मकी बातें उनको याद थीं। मस्त बने बैठे रहते थे। घरवालोंने उन्हें मूर्ख समझ रखा था। पर जडभरतजीको किसीकी परवा नहीं थी। देवी भद्रकालीकी बलिके लिये जडभरतजीको राजाके आदमी पकड़ ले गये, उन्होंने उनकी गरदनपर तलवार मारनेको ज्यों ही हाथ उठाया, देवी प्रकट हो गयीं और उन्होंने मारनेवालोंको मार डाला। तत्पश्चात् देवीने जडभरतजीको वरदान माँगनेके लिये कहा। देवीके आग्रहसे उन्होंने यही वर माँगा कि 'मेरे मारनेवालोंको जिला दो।' ऐसे ही एक बार राजा रहूगणकी पालकीमें जडभरतजी जोत दिये गये, वे अपने नित्यके अभ्यासके अनुसार कूदते–फाँदते चलने लगे। राजाने यह देखकर उन्हें बहुत डाँटा–डपटा तथा मारनेकी धमकी दी। जडभरतजी राजाकी बातोंको शान्तिपूर्वक सुनते रहे और अन्तमें उन्होंने

उसकी बातोंका बड़ा सुन्दर और ज्ञानपूर्ण उत्तर दिया। जब राजाने इस प्रकारका सुन्दर उत्तर उस पालकी ढोनेवाले मनुष्यसे सुना तो उसके मनमें यह निश्चय हो गया कि हो-न-हो, ये कोई छद्मवेषधारी महात्मा हैं। वह तुरंत पालकीसे उतरकर जडभरतजीके चरणोंमें गिर पड़ा और लगा उनसे गिड़-गिड़ाकर क्षमा माँगने। दयालु जडभरतजीने उसे उपदेश दिया।

ध्यान लगानेके लिये सौ युक्तियोंकी एक युक्ति वैराग्य है। युक्तियाँ तो फिर अपने-आप उपजने लगती हैं। ध्यान करनेवाले योगी महात्मालोग वैराग्यका ही आश्रय लेते हैं।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥

(गीता १८। ५२)

फलतः—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

(गीता १८। ५४)

—इत्यादि

‘फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकांक्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी परा भक्तिको प्राप्त हो जाता है।’

इन श्लोकोंके अनुसार उनकी स्थिति हो जाती है। जब वैराग्यकी इतनी महिमा है, तब पर-वैराग्यका तो कहना ही क्या है?

संसारके पदार्थोंमें आसक्ति न होनेका नाम वैराग्य है। संसारके किसी भी भोगमें आसक्ति न रहे, प्रीति न रहे, लगाव न रहे—यहाँतक कि ब्रह्मलोकके सम्पूर्ण भोग भी काकविष्ठावत् प्रतीत होने लगें; यही वैराग्य है। भोग्य पदार्थोंकी ओर वृत्तियाँ ही न जायँ, यह उपरामता है। वैराग्ययुक्त उपरामता ही श्रेष्ठ है, बिना वैराग्यके उपरामता कच्ची होती है। ऋषभदेवजीमें बड़ी भारी उपरामता थी, गौतमबुद्धसे भी बढ़कर! ऋषभदेवजीके समान उपरामताका कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। संसारमें विचरते हुए भी उन्हें संसारका ज्ञान न था। वनमें आग लगी है; किन्तु उन्हें इस बातका पता भी नहीं। अन्तमें शरीरमें आग लग गयी, शरीर आगमें जलकर भस्म हो गया; पर ऋषभदेवजीको तब भी आगका पता न चला। यह उपरामताकी सीमा है। ऐसी मस्तीमें स्थित हो जाया जाय कि कुछ पता ही न चले। शरीरका अध्यास ही न रह जाय! किसी भी संन्यासी अथवा गृहस्थमें ऐसी उपरामता आ जाय तो वह बहुत प्रशंसनीय है। केवल भीतरी उपरामता कम महत्त्वकी बात नहीं है। आत्माके कल्याणके लिये तो भीतरी उपरामताकी

ही विशेष आवश्यकता है। राजा जनकमें बाहरी उपरामता नहीं थी। वास्तवमें तो उनकी दृष्टिमें जगत्‌का अभाव ही था। शुकदेवजीमें बाहरी-भीतरी दोनों प्रकारकी उपरामता थी। जनकजीने शुकदेवजीसे कहा था—'महाराज! आपमें बाहरी और भीतरी—दोनों प्रकारकी उपरामता है, अतः आप मुझसे श्रेष्ठ हैं। आपको कुछ सीखना नहीं है। जाकर ध्यान लगाइये।' यह सुनकर शुकदेवजी चले गये, जाकर उन्होंने ध्यान लगाया। ध्यान लगाते ही उनको समाधि लग गयी, भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी।

समुद्रमें अनेकों नदियोंका जल पड़ता है; परन्तु वह ज्यों-का-त्यों गम्भीर है, अपनी महिमामें परिपूर्ण है। ऐसे ही ज्ञानी, महात्मा, विरक्त निष्कामी पुरुष अपनी महिमामें परिपूर्ण होते हैं। उन्हें संसारके पदार्थ आप-से-आप आकर प्राप्त होते हैं। वे व्यवहार भी करते हैं, परन्तु विकारको नहीं प्राप्त होते; उन्हें शान्ति ही प्राप्त होती है (देखिये गीता २।७०)। ज्ञानी महात्माकी दृष्टिमें संसारका अत्यन्त अभाव होता है और संसारी नास्तिक पुरुषोंकी दृष्टिमें परमात्माका अत्यन्त अभाव है। विषयी पुरुषके मनमें यह शंका रहती है कि 'परमात्मा है या नहीं। किन्तु नास्तिक कहता है कि परमात्मा है ही नहीं।' इसी प्रकार ज्ञानीके लिये संसार नहीं है। सच्ची उपरामता वैराग्यसे ही होती

है। उसीका फल है ब्राह्मी स्थिति। उसे जो प्राप्त कर लेता है, वह मोहको नहीं प्राप्त होता। अन्तकालमें भी उस स्थितिके प्राप्त हो जानेपर ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। गीताके दूसरे अध्यायके ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, इन श्लोकोंमें महात्माओंके स्वाभाविक वैराग्य एवं उपरामताका दिग्दर्शन कराया गया है। ६८ वें, ६९ वें श्लोकमें उपरामताकी तथा ७० वें और ७१ वें श्लोकमें वैराग्यकी बातें कही गयी हैं। ये प्राप्त पुरुषोंके लक्षण हैं और साधकोंके लिये यही साधन हैं। इनको लक्ष्यमें रखकर साधन करनेवाले विरक्त पुरुषोंका भाव और आचरण संसारी पुरुषोंकी अपेक्षा विलक्षण होते हैं।

राग़ी और विरागी पुरुषोंमें रात-दिनका अन्तर है, अन्धकार और प्रकाश-जितना अन्तर है। वास्तवमें तो वैराग्यवान् पुरुषकी पहचान होना ही कठिन है। कपूर और कस्तूरीकी गन्धको कुत्ता और गदहा क्या पहचान सकता है ? वैराग्यवान् पुरुष ही वैराग्यवान्की स्थितिका थोड़ा अनुमान कर सकता है। जो पदार्थ रागी पुरुषको प्रिय होते हैं, वे वैराग्यवान्को उलटे ही प्रतीत होते हैं। मान-बड़ाई रागी पुरुषको अमृत-सी लगती है, पर वैराग्यवान्को वह विष-सी प्रतीत होती है। रागीको इत्र, फुलेल, लवेंडर आदि सुगन्धित द्रव्य अच्छे लगते हैं; पर

वैराग्यवान् इनको घृणाकी दृष्टिसे देखता है। दोनोंकी रुचि विपरीत होती है। मखमलका गद्दा रागीको अच्छा मालूम देता है, पर वैराग्यवान्को वह अच्छा नहीं लगता। जहाँ मन आया वहीं पड़ रहे; भूमि हो या चटाई, उसके लिये सब बराबर है—वैराग्यके नशेमें उसे सब कुछ अमृततुल्य भासता है। वैराग्यवान्की वृत्तियाँ संसारसे तनी हुई होती हैं। किसी स्थानपर रातको रागी-विरागी सभी सो रहे हों, जाड़ा पड़ रहा हो, आसपास दुशाले, कम्बल और चट्टियाँ पड़ी हों; उस स्थितिमें रागीका हाथ सर्वप्रथम दुशालेपर पड़ेगा। कम्बलपर वह तभी हाथ डालेगा, जब दुशालेसे उसकी सर्दी दूर होती नहीं दीखेगी। परन्तु वैराग्यवान्का हाथ उस स्थितिमें भी स्वाभाविक ही चट्टियोंपर जायगा, दुशालेपर नहीं।

वैराग्यवान्को जो सुख प्राप्त होता है, वह रागीको कभी नहीं मिलता। वैराग्यवान्का सुख सात्त्विक सुख होता है। जहाँ फूलोंकी वर्षा हो रही होगी वहाँ वह जायगा ही नहीं। उसे तो संसारके सभी सुख बुरे मालूम होते हैं। संसारके सुख ही क्यों, देवता उसके सामने विमान लेकर आवें तो भी वह उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखेगा। दधीचिके पास इन्द्र जाता है, ऋषि ध्यानमें मस्त हैं। आँख खुलनेपर इन्द्र उन्हें कुछ उपदेश सुनानेके लिये

कहता है। ऋषि कहते हैं—‘इन्द्र! तेरा सुख कुत्तोंका-सा है।’ जिस स्थितिमें इन्द्रलोकका सुख—इन्द्राणीका सुख भी कुत्तोंके सुख-सा लगता है, वह कितने अगाध सुखकी स्थिति है, जरा इसका विचार तो कीजिये! छोटे बच्चे मखमलके कोट पहनते हैं, गोटेकी कामदार टोपी पहनते हैं, खिलौनोंको लेकर खूब आमोद-प्रमोद करते हैं। वे अपने पितासे कहते हैं कि ‘तुम भी खेलो।’ पर पिता उनके इस आग्रहपर हँसता है। बालकके चमकीले कपड़ोंसे हम सबको स्वाभाविक ही वैराग्य होता है, वे हमें अच्छे नहीं लगते। इसी प्रकार वैराग्यवान् पुरुषोंको जो भोगकी चीजें देते हैं, उनकी इस चेष्टापर वैराग्यवान् हँसते हैं। उनकी वृत्तियोंमें वैराग्यके कारण इतना आनन्द भरा रहता है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसे अमृतकी भी उपमा नहीं दी जा सकती! उनके हृदयमें क्षण-क्षणमें आनन्दकी लहरें उठा करती हैं। हम उनकी स्थितिको कैसे समझें, वैराग्य हो तो कुछ समझें भी। साँपके काटनेपर जिस प्रकार क्षण-क्षणमें विषकी लहरें आती हैं, समुद्रमें जिस प्रकार जलकी लहरें उठती हैं, बिजलीका करेण्ट छू जानेपर जिस प्रकार रक्तमें दुःखद लहरें उठती हैं, वैसे ही वैराग्यमें सुख और शान्तिकी लहरें उठती हैं। वास्तवमें ये उदाहरण भी वैराग्यजनित सुखकी लहरोंको समझा नहीं सकते। उनको समझानेके लिये संसारमें कोई

उदाहरण है ही नहीं। यदि कामी पुरुषका दृष्टान्त दें तो उसको शान्ति और सच्चे सुखका क्या पता! लोभीको पारस मिलनेपर जो आनन्द मिलता है, उसके साथ भी इसकी तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि उस आनन्दके साथ यह भय भी लगा रहता है कि उस पारसको कोई छीन न ले जाय। पारसके छिन जानेके भयके साथ उसे अपनी मृत्युका भी भय रहता है कि इस पारसके पीछे कोई उसे मार न दे। अस्तु, वैराग्यवान्‌के अनन्त सुखके सामने सांसारिक सुखका कोई भी उदाहरण नहीं ठहरता। रागीको संसारके विषयभोगोंको भोगनेमें जो आनन्द प्रतीत होता है, वैराग्यवान्‌को वही दु:ख प्रतीत होता है। वैराग्यवान्‌पर वैराग्यका ऐसा नशा चढ़ा रहता है कि भोगोंकी ओर वह दृष्टि ही नहीं डालता, उनमें उसे रस ही नहीं मिलता। वह तो वैराग्यके रसमें ही सराबोर रहता है। उपरामता होनेपर जो रस मिलता है, वह वैराग्यसे भी अधिक होता है। और भगवान्‌के ध्यानमें तो और भी विशेष सुख मिलता है। गीताके ५ वें अध्यायका २१ वाँ श्लोक देखिये—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्त:करणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द

है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।'

इस सुखको कैसे समझाया जाय! सारा जगत् तो परमात्मरूप अमृतसागरकी एक बूँदके आभासमें ही आनन्दित हो रहा है—मुग्ध हो रहा है; ध्यानजनित सुख उसकी एक बूँदके समान है। जिसकी बूँदमें इतना सुख है, उस सुखसागरके साक्षात् मिल जानेपर कितना अपार सुख मिलता है, उसे कोई समझा नहीं सकता। वह तो मन-वाणीसे अतीत है। अतः इसकी प्राप्तिके लिये संसारके भोगोंसे विरक्त और उपराम होकर मनको परमात्माके ध्यानमें लगानेके लिये कटिबद्ध होकर चेष्टा करनी चाहिये।

❑ ❑